पूज्य लालचंदभाई के प्रवचन श्री समयसार गाथा - ७२, बोल २, ३, लंदन हॉल में प्रवचन नं:- ४, ता. ०९-०७-१९८२

यह एक श्री समयसार जी परमागम शास्त्र है। आज से दो हजार वर्ष पूर्व समर्थ आचार्य कुंदकुंद भगवान हो गये हैं, जिनका स्तुति में नाम तीसरा है।

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्कुन्दार्यो जैनधर्मोस्तु मंगलम्॥

ऐसे एक समर्थ आचार्य द्वारा बनाया हुआ यह समयसार नामक शास्त्र है। जिसमें नवतत्त्व का विस्तार है। नवतत्त्वों के स्वरूप (का) ही इसमें निश्चयनय की प्रधानता से वर्णन किया (है)।

समयसार उसका ऐसा अर्थ है कि समय अर्थात् आत्मा और सार अर्थात् जो रागादि भावकर्म, ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म, शरीर आदि नोकर्म उन तीन प्रकार के संयोगों से भिन्न एक चैतन्यमूर्ति आत्मा अंदर विराजमान है वह सार अर्थात् उपादेय है। समयसार अर्थात् शुद्धात्मा उपादेय है कि जो भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित है। ऐसा एक शुद्धात्मा अंदर में विराजमान है। उसे कर्मकृत शरीर से भिन्न, कर्मकृत ऐसे ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्मों से भिन्न और कर्मकृत ऐसे जो पुण्य और पाप के जो परिणाम हैं उनसे भिन्न अंदर चैतन्यमूर्ति आत्मा विराजमान है। उसकी अंतर्दृष्टि करके, उसका लक्ष करके शुद्धात्मा का अनुभव करना उसका नाम धर्म है।

धर्म की शुरुआत शुद्धात्मा की अनुभूति से होती है। पाप के परिणाम अनंतबार जीव ने किये। नरक-निगोद में तिर्यंच में गया। पुण्य के परिणाम अनंतबार किये और मनुष्य हुआ और देवगति में भी गया। परंतु धर्म एक समयमात्र उसने किया नहीं है। यदि धर्म के परिणाम किए होते, शुद्धात्मा का अनुभव किया होता तो आज उसकी स्थिति यहाँ नहीं होती परन्तु मोक्ष में होती। अतः कोई भी कर्तव्य हो, करने जैसा कार्य हो तो सम्यग्दर्शन- ज्ञान-चारित्र के परिणाम जो वीतरागी परिणाम हैं, जो सुखरूप और हितरूप हैं। ऐसे अपने शुद्धात्मा का अवलंबन लेकर और ऐसे परिणाम प्रगट करना उसे परमात्मा धर्म दशा कहते हैं। उसका दूसरा नाम सामायिक है, उसका दूसरा नाम प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना है। उसका नाम संवर, निर्जरा और तप है। वह जो कहो वह शुद्धात्मा के अनुभव के सब अलग-अलग नाम हैं, नामान्तर हैं। शुद्धात्मा का अनुभव जीव ने एक समयमात्र किया नहीं है। अकेले राग का अनुभव किया है। रागानुभूति की है परन्तु शुद्धात्मा की अनुभूति उसे एक समयमात्र हुई नहीं है।

जब शुद्धात्मा का आत्मा को अनुभव होता है तब उस जीव को सम्यग्दर्शन होता है। और भव के अंत का वह बीज आ जाता है। अल्पकाल में दो, चार, पाँच भव में तो उसका मोक्ष हो जाता है। ऐसी अपूर्व बात जगत के जीवों को सुनने को भी मिलती नहीं और सुनने को ना मिले तो विचार कब करे, निर्णय कब करे, उसका अनुभव कब करे? ऐसी एक अपूर्व चीज (देनेवाले), हम सबके उपकारी

गुरुदेव, सोनगढ़ में कानजी स्वामी हुए। उन्होंने ४५-४५ वर्ष तक इस शुद्धात्मा का उपदेश दिया। और उसके अनुसार बहुत जीवों ने उसे सुनकर यथाशक्ति ग्रहण किया। वह ही बात वे कह गये हैं। वह बात पुनः-पुनः हमसे कही हुई बात स्मरण में लाकर और हम उसका घोलन करते हैं।

इसमें एक कर्ता-कर्म अधिकार की बहत्तर नंबर की गाथा है। उसमें शिष्य का प्रश्न है कि प्रभु अनंतकाल से ये पुण्य और पाप के परिणाम कर्ताबुद्धि से किये और उसके फल में दुःख भोगा। स्वर्ग में जाकर भी एकांत दुःख भोगा है। स्वर्ग में भी सुख भोगा नहीं है। क्योंकि संयोग और संयोगी भाव उसमें किंचित् मात्र आत्मिक सुख नहीं है। सुख आत्मा में रहा हुआ है और उस शुद्धात्मा का लक्ष करने पर, अंतर्ध्यान करने पर, एकाग्र होने पर अंतर में आत्मा का अनुभव आता है। ऐसी दशा एक समयमात्र की नहीं। प्रभु! उस आत्मा का अनुभव मुझे कैसे हो और राग का वेदन दुःख मुझे कैसे छूट जाये? ऐसा एक शिष्य का प्रश्न है।

इसके उत्तर में वे भेदज्ञान की कला बताते हैं। भेदज्ञान अर्थात् विवेक। विवेक कहो या भेदज्ञान कहो। उसमें तीन बोल से सिद्ध करते हैं कि, भगवान आत्मा पवित्र है और ये पुण्य और पाप के परिणाम दोनों अशुचि अर्थात् अपवित्र भाव हैं। पवित्रभाव का ग्रहण करने पर अपवित्रभाव छूट जाता है। पहले पाप की रुचि छूटती है फिर पुण्य की रुचि छूट जाती है। पाप और पुण्य दो प्रकार के भावों की रुचि छूटती है। और पुण्य के परिणाम रह जाते हैं परन्तु पुण्य की रुचि रहती नहीं है। पुण्य के फल भले आ मिलें परंतु उनके प्रति ज्ञानी उदास है (उपेक्षा है) और आत्मा की अपेक्षा रही हुई है। निरंतर आत्मा का लक्ष करता हुआ आत्मा पुण्य-पाप के आते-जाते परिणाम को मात्र जानता है, परन्तु वे करने लायक हैं ऐसी बुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि छूट जाती है। तो यहाँ प्रथम तीन बोल से बात करते हैं कि भगवान आत्मा पवित्र है। उसके सामने पुण्य और पाप के परिणाम अशुचि अर्थात् अपवित्र हैं, मैल हैं, मल हैं। जैसे पानी के ऊपर सेवाल होती है। दृष्टांत दिया है पहली लाइन में कि पानी के ऊपर जैसे **सेवाल (काई) है सो मल या मैल है**, मैलरूप अनुभव में आती है।

ऐसी ही यह शुद्धात्मा इसके ऊपर-ऊपर बहिर्मुख दशा में ... द्रव्य, गुण और पर्याय यह तो वस्तु ख़ास समझने जैसी है। द्रव्य किसे कहते हैं? कि जो सोना है उसे द्रव्य कहते हैं। उसमें जो पीलापन, चिकनापन है उन्हें सोने के गुण कहते हैं। और उसकी जो अवस्था होती है, आकार होता है एक के बाद एक, उसे पर्याय कहते हैं। द्रव्य, गुण और पर्याय। ऐसे यह आत्मा एक पदार्थ है कि द्रव्य से नित्य है और द्रव्य होने से उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, प्रभुत्व, विभुत्व आदि अनंत-अनंत शक्ति अर्थात् गुण रहते हैं। द्रव्य है और उसमें गुण रहते हैं। और उन द्रव्य और गुणों की समय-समय पर अवस्था होती है, उसका नाम पर्याय है। द्रव्य, गुण और पर्याय। पर्याय कहो, हालत कहो, दशा कहो, परिणाम कहो ये सभी प्रकार पर्याय के हैं।

तो यहाँ आत्मा द्रव्य स्वभाव से भगवान है और वर्तमान परिणाम में अनादिकाल से अपने स्वभाव को चूककर परभाव और परद्रव्य मेरे हैं उसमें मोह और ममता करता हुआ आत्मा, पुण्य और पापरूप से परिणमता है। वह मैल और अपवित्र भाव है, वह दुःखदायकभाव है, ऐसा कहेंगे आगे। तो वह पवित्र और अपवित्र। पवित्र द्रव्यस्वभाव है। अपवित्र वर्तमान पुण्य-पाप के परिणाम हैं। वे समकक्षा

से अपवित्र हैं। पाप के परिणाम अशुभभाव हिंसा, झूठ, चोरी के भाव भी अपवित्र हैं। अहिंसा आदि के परिणाम पुण्यभाव वे भी अपवित्र हैं, पवित्रभाव नहीं हैं। क्योंकि वे आत्मा के विकृतस्वभाव हैं, विरुद्धस्वभाव है। आत्मा के स्वभाव की जाति से विपरीत स्वभाव हैं। वे विकृत भाव हैं सभी। वे अपवित्र हैं। पवित्र अपना शुद्धात्मा अंदर विराजमान है और बहिर्मुख रुचि से अव्रत के भाव होते हैं वे पापभाव हैं और व्रतादि के भाव होते हैं वे पुण्यभाव हैं। वे अव्रत और व्रत दो प्रकार के जो परिणाम, सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा उन्हें अपवित्र कहते हैं। वे विभावभाव हैं। आत्मा के स्वभावभाव नहीं हैं। क्योंकि उनसे नये कर्म बंधते हैं परन्तु उनसे निर्जरा नहीं होती।

अतः यह दो प्रकार की बात पहले बोल में आयी कि भगवान आत्मा पवित्र है और पुण्य-पाप के आस्रव (अपवित्र हैं)। आस्रव के दो प्रकार, पुण्यास्रव और पापास्रव। अब द्रव्य, गुण और पर्याय इतना भी ज्ञान नहीं। नवतत्त्व के नाम ना आयें। नवतत्त्व के भाव क्या वह कुछ पता नहीं। बाकी दो सौ जाति के कपड़े हों उनके नाम आते हैं। झवेरचंदभाई! और उसकी खरीदभाव की खबर होती है। और उसके ऊपर ये छह माह में बिक्री होती है तो इतना खर्च चढ़ गया। वह खर्च जोड़कर, मुनाफा जोड़कर एकदम भाव कहने में आता है। यह (मस्तिष्क) कैलक्यूलेटर है। उसमें कोई व्यापारी को बही-खाता देखने की जरूरत नहीं पड़ती। इतनी याददाश्त उसमें रहती है। और जिससे अपना परमहित हो ऐसे सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहे हुए छह द्रव्य और नवतत्त्व का स्वरूप क्या उसका कुछ पता नहीं है। द्रव्य किसे कहते हैं? गुण किसे कहते हैं? पर्याय किसे कहते हैं? उपादान क्या? निमित्त क्या? निश्चय क्या? व्यवहार क्या? कुछ पता नहीं है। है तो थोड़ा ही। बहुत थोड़े टाइम में यह अभ्यास हो सके ऐसा है। बहुत थोड़े टाइम में अभ्यास हो सकता है। कम से कम तीन महीने और ज्यादा से ज्यादा छह महीने सब अभ्यास हो जाये पूरा।

यहाँ, केन्या में और लंदन में, तो दस-दस वर्ष पढ़ते हैं और फिर पास हों तो अमरिका जाते हैं डिग्री के लिये। यह जयेश जाने वाला है। जयेश बैठा है। अब उसमें टाइम निकाले। उसमें टाइम मिले और उसमें खर्च चाहे जितना हो तो भी कोई दिक्कत नहीं है। क्योंकि पिता को फिर पुत्र कमाकर देगा, वो लोभ है। मूल तो उसमें भी सबका स्वार्थ होता है। दूसरी किसी बात में दम नहीं है। संत तो वहाँ तक कहते हैं कि ये सब ये कुटुंब परिवार वह ठगों की टोली है। ऐसा पाठ है। आहाहा! स्वार्थ के सगे हैं सब। दूसरा कोई उसमें बात में दम नहीं है। तो उसे वो टाइम मिलता है पढ़ने का परन्तु घर पर घंटे, दो घंटे का टाइम नहीं मिलता। अर्थात् ऐसे के ऐसे जिंदगी पूरी हो जाती है। और आयुष्य पूरा हो जाता है। मुश्किल से मनुष्यभव मिला है। जैनदर्शन मिला, कुछ सुनने को मिला, ज्ञानी का योग हुआ, उनका साहित्य मिला किन्तु पढ़ने का टाइम नहीं।

एक बार मैं कलकत्ता गया था। तो एक भाई के वहाँ शाम को जीमने गया। तो मैंने पूछा कि समयसार हमें शाम को आठ से नौ लेना है, तो समयसार जरा अलमारी में से दे दो। तो समयसार तो दिया परन्तु पन्ने बंद थे। ऐसे खोला तो पन्ने खुले नहीं। मैंने कहा क्यों भाई यह समयसार कुछ भी पढ़ा नहीं है? तो कहें नहीं, अलमारी में रखा है। आहाहा! अब इसमें- एक बनाव ऐसा बना कि दो मित्र निर्धन थे और उसमें एक तपस्वी हो गया। तपस्वी हो गया फिर कुछ तप किया और उसमें कुछ ऋद्धि

मिली सोना बनाने की। लोहे के ऊपर पानी डाले वनस्पति का, तो सोना हो जाये। तो फिर वहाँ आया तो मित्र को कहा कि यह एक किताब दे जाता हूँ। इसका सोना तुम बना लेना, लोहे के ऊपर डालकर। तुम धनवान हो जाओगे। बारह महीने के पश्चात् उसे विचार आया कि लाओ मेरे मित्र को देखूँ तो अब तो मोटर और बंगले में रहता होगा। वह किताब उसने संभालकर एकदम ताले-चाबी में रखी थी। खोली नहीं, पढ़ी नहीं, कुछ अभ्यास किया नहीं, प्रयोग किया नहीं। कहा भाई यह क्या हुआ? मेरी विद्या झूठी? तो कहा, नहीं, तुम्हारी विद्या सच्ची होगी परन्तु मैंने कुछ किताब खोलकर देखी नहीं है।

ऐसे यह समयसार शास्त्र भगवान होने का शास्त्र है। भागवती शास्त्र, दैवीशास्त्र। जो यह समयसार शास्त्र हमारे उपकारी पूज्य गुरुदेव को भी निमित्त हुआ, श्रीमद् राजचन्द्रजी को भी समयसार निमित्त हुआ। ऐसे ही टोडरमलजी साहिब, बनारसीदास, दीपचंदजी, राजमलजी, पूर्व में जितने-जितने ज्ञानी अभी हुए वहाँ खोज करते हैं तो पूर्व में उन्हें समयसार शास्त्र मुख्यरूप से निमित्त हुआ है। चार अनुयोग निमित्त होते हैं, जिनवाणी ही है। परन्तु द्रव्यानुयोग का जो शास्त्र है वह कोई अपूर्व है और उसमें भेदज्ञान का मंत्र रहा हुआ है। राग भिन्न और ज्ञान भिन्न। दो तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं। जीवतत्त्व और आस्रवतत्त्व दो मिलकर एक जीवतत्त्व नहीं होता। जीवतत्त्व ज्ञानमय है और आस्रवतत्त्व अपवित्र है, जड़ है और दुःख का कारण है - ऐसे तीन बोल इसमें आते हैं। उसमें एक बोल अपना पूरा हुआ। अब दूसरा बोल।

आस्रवोंके अर्थात् दया, दान, करुणा, कोमलता के परिणाम वे **जड़स्वभाव** हैं। चेतन होने की उसे भ्रांति हुई है। किन्तु वे परिणाम चेतन के नहीं हैं, चेतन की जाति के नहीं हैं, चेतन के साथ मिलान होता नहीं है। आत्मा में जानने की शक्ति है। दया, दान, करुणा, कोमलता के जो परिणाम या व्रतादि के परिणाम या उपवास के परिणाम शुभभाव विकल्प (हैं); वे सभी जड़ भाव हैं। अब यह सुनने को ही मिले नहीं (तो) किस दिन विचार करे, किस दिन निर्णय करे और किस दिन आत्मा का अनुभव करे? टाइम निकालना चाहिये। इसमें अकेला शाश्वत सुख मिले, स्वाधीन सुख मिले ऐसी इसमें कला लिखी हुई है। **आस्रवोंके जड़स्वभावत्व**। आस्रव अर्थात् पुण्यास्रव और पापास्रव। **आस्रवों** अर्थात् आगंतुकभाव। नये-नये कृत्रिम भाव खड़े होते हैं। आगंतुक। जैसे मेहमान आते हैं, झवेरचंदभाई के यहाँ आये लालचंदभाई परंतु मेहमान के रूप में आये हैं। मेहमान के रूप में हैं न?

ऐसे ही ये आस्रव पुण्य-पाप के परिणाम ये मेहमान हैं, ये घर के व्यक्ति नहीं हैं, घर के सदस्य नहीं हैं, कायम रुकनेवाले नहीं हैं। क्षणिक - एक समय में, क्षण में शुभ और क्षण में अशुभ भाव, कृत्रिम बहिर्मुख झुकाव उत्पन्न होता है और फट वह मर जाता है। क्योंकि आस्रवों का आयुष्य एक समय का है। शुभभाव भी एक समय का, अशुभभाव भी एक समय का; क्षण में उत्पन्न होता है और क्षण में फिर नाश हो जाता है। और आत्मा अविनाशी है। आस्रव अनित्य हैं, अध्रुव हैं। और आत्मा ध्रुव और अविनाशी पद है अंदर में विराजमान। आहाहा! ध्रुव अविनाशी के सामने देखा नहीं। और पुण्य और पाप के फल मीठे लगे। वे सभी दुःखदायक भाव हैं। उसमें अधिक दाह उत्पन्न होता है। विशेष-विशेष विषयों की वाँछा उत्पन्न होती है। जैसे-जैसे पुण्य का प्रकार बढ़ता है, फल बढ़ता है वैसे-वैसे

उन्हें विषयों की वाँछा बढ़ती जाती है।

और जिस प्रकार एक जोंक नाम का जंतु होता है, वह कीड़ा एकदम शरीर में रोग, सूजन हो गया हो तो खराब खून को चूस लेता है। खराब खून चूसे, उसे मीठा लगता है परन्तु चूसते, चूसते, चूसते उसका मरण हो जाता है। तब तक चूसता है। चूसनेवाले की चमड़ी फट जाये तब तक चूसता है। ऐसे इस पुण्य के फल में विषयों की वाँछा इतनी ज्यादा बढ़ती जाती है और वाँछा की तृप्ति के लिये पाँच इन्द्रियों के विषय में से किसी समय स्पर्श (इन्द्रिय का), किसी समय रस इन्द्रिय का, किसी समय घ्राण इन्द्रिय का, ऐसे विषयों के ऊपर झपट्टा मारता है। विषयों को प्राप्त करने की इच्छा और विषयों को भोगने की इच्छा इसमें कहीं उसे तृप्ति होती नहीं। क्योंकि उसमें आत्मिक सुख का छींटा नहीं है। उल्टा जैसे अग्नि में पेट्रोल छिड़कते हैं ऐसे उसकी ज्वाला बढ़ती जाती है, दाह बढ़ती जाती है; यह पदार्थ प्राप्त करूँ और इसे भोगूँ, इसे रखूँ और इसे बढ़ाऊँ। ऐसे चौबीसों घंटे पुण्य के फल में जीव अधिक दुःखी होता है। पाप की प्रकृति के उदय में प्रतिकूल संयोग हों तब तो भगवान याद भी आयें। परन्तु पुण्य के फल में, अनुकूलता के संयोग में, बिल्कुल आत्मा भटक जाता है। क्योंकि इसमें सुख नहीं है और सुख की भ्रान्ति होती है - सुखाभास भगवान कहते हैं, सुख का आभास। इसीलिये आचार्य भगवान फरमाते हैं कि, हे भव्य आत्मा, यह तुझे मनुष्यभव मिला है (तो) कुछ तू आत्मा का हित कर ले। नहीं तो कहाँ जाकर फैंक दिया जायेगा कुछ खबर नहीं है।

गुरुदेव फरमाते थे कि जैसे सूखा हुआ तिनका हो और तूफ़ान आये, पवन का वेग और वह तिनका उड़े फिर वह कहाँ फिक जाएगा कुछ उसका पता नहीं है। ऐसे आत्मा धर्म की प्राप्ति किये बिना यदि आयुष्य पूरा हो तो कहाँ जाकर फिक जायेगा, कुछ उसका पता लगेगा नहीं। खो जायेगा आत्मा। इसलिये एक अवसर तो चला गया, गुरुदेव चले गये। अब एक अवसर मात्र बाकी है। आयुष्य पूरा ना हो तब तक उसे जाग जाने जैसा है, चेत जाने जैसा है और अपना हित त्वरित कर लेने जैसा है।

दूसरे बोल में ऐसा कहते हैं कि, अरे ये व्रत-अव्रत के भाव जिन्हें तू धर्म मान बैठा है, व्रत के भाव को तू धर्म मान रहा है, ये तो जड़ स्वभावी हैं, इसमें तो चैतन्य का अंकुर नहीं है। इसमें जानने-देखने की शक्ति का ही अभाव है। व्रत और अव्रत के जो परिणाम होते हैं वे जड़स्वभावी हैं। जड़स्वभावी क्यों कहा? कि जैसे ज्ञान में जानने की शक्ति है ऐसे इस रागादि में जानने की शक्ति का अभाव है। इसलिये उसे जड़स्वभावी कहने में आया है। वह कारण देंगे इसमें। बहुत लॉजिक न्याय से एकदम सिद्ध हो ऐसी सर्वज्ञ भगवान की बात है।

आस्रवोंके व्रत और अव्रत के परिणाम, जो पुण्य और पाप के परिणाम (हैं), जगत जिसे धर्म का साधन मानता है वे तो जड़ हैं। जड़ से चेतन की प्राप्ति किस प्रकार हो? वे लगते हैं उसे चेतन जैसे। क्योंकि चेतन के साथ-साथ जोड़े से उपजते हैं। अतः चेतन होने की उसे भ्रान्ति हो गई है। जैसे चंदन के वृक्ष का जंगल होता है और उसमें बीच-बीच में कोई सागौन के पेड़ भी उग जाते हैं उग जाते हैं, तो क्या होता है? कि उसकी हवा आती है न, तो वह हवा उसमें पैठ जाती है। फिर उस साग की लकड़ी को काटकर मुंबई में बेचने बैठे फुटपाथ के ऊपर। टुकड़े सुंदर चन्दन जैसे बनाये, गोल। और लेनेवाला ऐसे लेकर सूँघे तो उसमें सुगंध तो होती है। क्योंकि वृक्ष के बाजू में से होकर उसकी हवा

आयी इसलिए सुगंध तो उसमें थोड़ी ऊपर होती है। तो वह साग की लकड़ी चन्दन के भाव में ले लेता है। अलमारी में रख देता है। दो, चार, छह महीने के बाद विचार आता है कि आज बहुत ताप पड़ा है तो जरा माथे पर लगायें वगैरह; उपयोग करने के लिये। जैसे ही निकालता है और सूँघता है तो सुगंध उड़ गई। क्योंकि वह चंदन की लकड़ी ही नहीं थी।

मुमुक्षु: असली नहीं था।

पू. लालचंदभाई: नकली थी। आहाहा!

ऐसे ही यह चैतन्य प्रभु भगवान आत्मा जानने-देखने के स्वभाव से भरा हुआ, उसमें एक पर्याय में जानने की क्रिया होती है। और पर्याय में अनादिकाल से अज्ञान होने के कारण अज्ञान में से जन्मे हुए व्रत और अव्रतभाव प्रगट होते हैं। वे अज्ञान की उपज हैं, वे आत्मा की उपज नहीं हैं। आत्मा के स्वभाव के आश्रय से व्रत-अव्रतभाव होते नहीं हैं। परन्तु वे चैतन्य के साथ साथ उपजते हैं इसलिये चैतन्य होने की भ्रान्ति हो गई। जैसे चन्दन की लकड़ी नहीं थी परन्तु चन्दन की लकड़ी होने की भ्रान्ति हुई; ऐसे वे चैतन्य के साथ-साथ वे रागादि उपजते होने से मानो कि ये भी चैतन्य के भाव हैं, ये भी चैतन्य के परिणाम हैं ऐसी उसे अनादिकाल से भ्रान्ति हुई है। परन्तु वास्तव में चैतन्य की जागृति का एक अंश (नहीं है), व्रत का भाव हो या अव्रत का भाव। छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले महामुनि पाँच महाव्रत निरतिचारपने पालते हैं, सत्य वचन के कहनेवाले हैं। वे स्वयं कहते हैं कि ये पाँच महाव्रत के परिणाम हमारी दशा में उठते हैं। स्वभाव में ठहरा नहीं जाता। परन्तु हमारी दशा में साथ में उठते हैं परन्तु वे परिणाम सब जड़ स्वभावी हैं। आहाहा! कौन कहे यह? यह तो सच्चे दिगंबर संत अनुभवी ही कह सकते हैं।

आस्रवोंके तीनों काल, चौथा काल हो या पाँचवा काल हो। तीनों काल तत्त्व का जैसा स्वरूप है, नवतत्त्व में एक आस्रवतत्त्व है और नवतत्त्व में एक जीवतत्त्व है। जीव भगवान स्वभाव से विराजमान है। और पुण्य-पाप के आस्रव तत्त्व वे जड़स्वभावी हैं। क्योंकि स्वयं को भी जानते नहीं और जाननहार को भी जानते नहीं। न्याय देंगे अभी। जड़ क्यों कहा उसका कारण देते हैं।

आस्रवोंके जड़स्वभावत्व होनेसे अनादि-अनंत होने से, हो जाने से नहीं। पहले चैतन्य थे और फिर जड़ हो गये ऐसा नहीं। हो जाने से नहीं लिखा, होने से। तीनों काल पुण्य और पाप के आस्रव जड़स्वभावी हैं। **जड़स्वभावत्व होनेसे वे दूसरेके द्वारा जानने योग्य हैं**। दूसरे के द्वारा जानने योग्य हैं। अर्थात् आत्मा के द्वारा वे जानने योग्य हैं परन्तु वे जाननहार तत्त्व नहीं हैं। उसमें जानन तत्त्व नहीं है। इसमें ज्ञेयत्व है अर्थात् ज्ञान का विषय होता है। अपने में उत्पन्न होने वाले पुण्य-पाप के परिणाम वे ज्ञान में ज्ञेय होते हैं, जानने में आते हैं, परन्तु वह राग, राग को नहीं जानता और राग जाननहार को भी नहीं जानता; अतः वह जड़स्वभावी अचेतन है। झवेरचंदभाई! थोड़ा अभ्यास तो करना पड़ेगा। थोड़ा-थोड़ा किया है परन्तु ज़्यादा करना पड़ेगा। आहाहा! थोड़े से कुछ संतोष मानने जैसा नहीं है कि भई हम तो अब आधा घंटा, घंटा स्वाध्याय करते हैं और ऐसा करते हैं न। यह संतोष का विषय नहीं है। जब तक शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव ना हो तब तक उसे निरंतर प्रयत्न करने की जरूरत है।

आस्रवोंके जड़स्वभावत्व होनेसे वे दूसरेके द्वारा जानने योग्य हैं। दूसरे के द्वारा अर्थात्

जाननहार के द्वारा जानने योग्य हैं। जैसे यह फोटो है, यह शास्त्र है, यह दीवार है ये जड़स्वभावी हैं; दूसरे के द्वारा जानने योग्य हैं। दूसरे के ज्ञान में दीवार जानने में अवश्य आती है। परन्तु दीवार, दीवार को नहीं जानती और आत्मा बैठा है उसे भी दीवार नहीं जानती, क्योंकि उसमें ज्ञानस्वभाव नहीं है; दृष्टांत। ऐसे भगवान सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा देवाधिदेव तीर्थंकर परमात्मा फरमाते हैं। आहाहा! यह तो तीर्थंकर की दिव्यध्वनि में आये हुए भाव हैं ... कहते हैं कि ये आस्रव दूसरे के द्वारा जानने योग्य हैं। दूसरे के द्वारा जनाने योग्य हैं। दूसरे उसको जानते तो हैं कि यह क्रोध हुआ, यह मान हुआ, कषाय की मंदता, कषाय की तीव्रता, भक्ति का राग, भगवान की भक्ति का राग, यह सुनने का जो राग आता है न अभी, यह प्रशस्त राग है और यह जड़ है, वे चेतन नहीं है। चेतन होने की भ्रान्ति होती है परन्तु जड़ है। क्योंकि वह राग, राग को जानता नहीं और राग के साथ में ज्ञायक आत्मा, जाननहार जीवतत्त्व है उसे भी जानता नहीं है। उसमें ज्ञेयत्वस्वभाव है परन्तु उसमें ज्ञानत्वस्वभाव नहीं है। व्रत-अव्रत में ज्ञानस्वभाव नहीं है, ज्ञेयस्वभाव है। ज्ञेयस्वभाव अर्थात् ज्ञान का विषय होता है। ज्ञान में जानने में आते तो हैं व्रत-अव्रतभाव। प्रमेयत्वभाव - ज्ञेयत्व है, उसमें ज्ञेयत्व है किन्तु उसमें ज्ञानत्व नहीं है। और भगवान आत्मा में दोगुनी शक्ति है, ज्ञानत्वस्वभाव है और ज्ञेयत्वस्वभाव है। आत्मा आत्मा को जानता है और आत्मा आत्मा को जनाता है। ऐसे ज्ञेय और ज्ञायक स्वभाव दोगुना स्वभाव आत्मा में है। परन्तु जो जड़ है उसमें अकेला ज्ञेयत्वस्वभाव है, उसमें ज्ञान नहीं है। इसलिए मात्र वह ज्ञान का विषय होता है परन्तु ज्ञान को विषय नहीं बना सकता।

दूसरेके द्वारा वे **जानने योग्य हैं** दूसरा उसे जाने परंतु स्वयं स्वयं को भी ना जाने और स्वयं जाननहार को भी ना जाने; इसलिए उसमें जड़त्वपना है। किसलिए जड़ कहा? क्योंकि यह एक अनादिकाल से भ्रांति है कि उसे चेतन जैसे लगते हैं और चेतन ही (मानता) है। और व्यवहारनय के शास्त्रों में इसको चिद्विकार भी कहने में आता है. चिद्विकार भी कहने में आता है। परन्तु वास्तव में निश्चयनय की दृष्टि से देखने में आये तो उसमें जानने-देखने के स्वभाव का अभाव है। उसमें जानने का लक्षण भी नहीं है और उसमें अनाकुल आनंद का लक्षण भी नहीं है। अर्थात् जीव के मुख्य दो लक्षण हैं, उन दोनों में से कोई (भी) लक्षण उसमें नहीं है। एक लक्षण जड़त्व कहा, फिर उसमें आकुलता है, अनाकुलता नहीं है यह बाद में कहेंगे।

जैसे जीव में दो प्रकार के लक्षण (हैं), ज्ञान और आनंद। ऐसे व्रत और अव्रत के परिणाम, पुण्य और पाप के भाव - आस्रवतत्त्व (है)। भगवान ने नवतत्त्व की बात (की) है, नवतत्त्व से बाहर कोई बात ज्ञानी कहते नहीं। **वे दूसरे के द्वारा जानने योग्य हैं (–क्योंकि**, अब खुलासा करते हैं। **(–क्योंकि जो जड़ हो वह**, जो जड़ अचेतन हो वह **अपनेको तथा परको नहीं जानता,** उसमें स्व-पर को जानने की शक्ति का अभाव है। आत्मा में स्व और पर को जानने की शक्ति का सद्भाव है। और व्रत-अव्रत के भाव जड़ होने से उनमें स्व को या पर को किसी को जानने की शक्ति नहीं है, दो में से एक भी धर्म उनमें नहीं है। स्वपरप्रकाशक शक्ति ज्ञान में है। परन्तु जो जड़ है वह अपने को भी नहीं जानता इसलिए स्वप्रकाशकपना नहीं है और जाननहार को भी नहीं जानता इसलिये परप्रकाशकपना भी नहीं है। स्वपरप्रकाशक शक्ति का अभाव होने से उसे परमात्मा देवाधिदेव त्रिलोकनाथ उसे जड़स्वभावी

कहते हैं। उसके ऊपर से प्रेम और प्रीति और रुचि छोड़ दे। तुझे इतनी महिमा क्या आती है पुण्य और पुण्य के फल में? तुझे इतना अधिक (उसमें) क्या भासित हो गया है? सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि तूने आत्मा के आनंद का स्वाद नहीं लिया है न, इसलिये तुझे उसमें ठीक लगता है। परन्तु एक बार आत्मा का स्वाद तो ले तू? तो देव के स्वर्ग के सुख भी सड़े हुए तिनके के जैसे लगेंगे। उसमें तुझे कोई अधिकता लगेगी नहीं। **(–क्योंकिजो जड़ हो वह अपनेको तथा परको नहीं जानता, उसे दूसरा ही जानता है–)**। दूसरा ही जानता है अर्थात् जाननहार आत्मा है वह आत्मा आत्मा को भी जानता है और आत्मा पुण्य-पाप के जो परिणाम अपने कालक्रम में आते हैं उनको जानता है। आत्मा पुण्य-पाप के परिणाम का कर्ता नहीं है। आत्मा पुण्य-पाप के परिणाम का जाननहार है ऐसा कहना सो व्यवहार है और आत्मा आत्मा को जानता है ऐसा जानना सो निश्चयनय है। यह निश्चयनय और व्यवहारनय की संक्षिप्त व्याख्या।

अपन उस गाँव में गये थे न, क्या नाम? लेस्टर। वहाँ गये थे तब एक भाई ने प्रश्न पूछा था कि निश्चयनय और व्यवहारनय (अर्थात्) क्या? उसे उत्तर दिया था दृष्टांत से। कि जैसे सोना है वह कायम चीज है उसे जो ज्ञान जानता है उसका नाम निश्चयनय और उसके आकार को जानता है, पर्याय को जानता है, भेद को जानता है - उसका नाम व्यवहारनय। ऐसे एक आत्मा है वह द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तु है। द्रव्य में अनंत गुण रहते हैं। भगवान गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं अथवा **गुणपर्ययवत् द्रव्यम्** (तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय पाँचवाँ, सूत्र ३८), गुणपर्याय के समुदाय को भी द्रव्य कहने में आता है। तो द्रव्य स्वभाव जो आत्मा है, ज्ञायकभाव उसको जो ज्ञान जानता है उसका नाम निश्चयनय है; और वर्तमान वर्तते हुए परिणाम के भेद को जानता है उसका नाम व्यवहारनय है।

पुण्य को करे वह व्यवहार नहीं वह तो अज्ञान है। पुण्य के परिणाम आयें उनको जाने उसका नाम व्यवहारनय है। पुण्य के परिणाम को करे वह तो अज्ञान में गया। निश्चय भी नहीं और व्यवहार भी नहीं।

मुमुक्षु: पुण्य के परिणाम का कर्ता नहीं है तो पुण्य के परिणाम कौन करता है?

पू. लालचंदभाई: पुण्य के परिणाम को करनेवाला - वह परिणाम परिणाम को करता है। परिणाम में षट्कारक हैं। पर्याय का कर्ता पर्याय है, पर्याय का कर्म पर्याय है, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण, ये (पर्याय के) षट्कारक। पर्याय सत् अहेतुक होने के कारण पर्याय स्वयं अपने स्व-अवसर पर उपजती है और स्वकाल पर विलय को प्राप्त होती है। उस पर्याय का कर्ता पर्याय है। एक दूसरी अपेक्षा है कि पुण्य-पाप के परिणाम जिसके संबंध से होते हैं न, कर्म के संबंध से, पुद्गल के संबंध से होते हैं; तो जिसका अवलंबन लेकर परिणाम हुए तो उसको उसमें अभेद करके वह पुद्गल ही उसको करता है, (वह) रचना पुद्गल की है मेरी रचना नहीं है। ऐसा जानकार जो अंतर्दृष्टि करता है उसे अनुभव होता है।

दो प्रकार कहे। कि पुण्य-पाप के परिणाम को आत्मा नहीं करता तो कौन करता है? ऐसा प्रश्न आया। कि परिणाम को परिणाम करता है। द्रव्यस्वभाव निष्क्रिय अकर्ता होने से परिणाम को वास्तव में निश्चयनय से करता नहीं है। व्यवहारनय से परिणाम को करता है ऐसा कहने में आता है परन्तु

वास्तव में उसका कर्ता आत्मा नहीं है। परिणाम परिणाम को करता है, पर्याय पर्याय को करती है, एक। और दूसरा वे पुण्य-पाप के परिणाम कर्म के उदय के लक्ष से होते हैं। अतः जिसके संबंध से जो होता है इसलिए वह उसका कर्ता है, मैं उसका कर्ता नहीं हूँ। ऐसे वह पुद्गल द्रव्य इसमें व्यापक है, आदि-मध्य-अंत में और वह रचना पुद्गल की है, वह रचना मेरी नहीं है क्योंकि वो विभावभाव है। ऐसा जानकर द्रव्यदृष्टि करने जैसी है। ऐसा जानकर स्वच्छंद में जाने जैसा नहीं है। ऊँचे-ऊँचे चढ़ने की बात है, नीचे जाने की बात नहीं है। आहाहा!

उस परिणाम को कौन करता है? कि मैं करता हूँ उस परिणाम को, ऐसी बुद्धि है तब तक अज्ञानी है। मैं उस परिणाम का कर्ता हूँ परिणाम के ऊपर दृष्टि है, परिणाम का स्वामी हुआ ऐसी कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति राग के साथ जिसको है वह अज्ञानी है। वह परिणाम परिणाम से होता है, मैं उसका कर्ता नहीं हूँ, अकर्ता हूँ। ऐसा जानकर द्रव्यदृष्टि करने पर वह परिणाम होता अवश्य है परन्तु वो परिणाम का जाननहार रहता है। परन्तु परिणाम का मैं मालिक हूँ और मैं उसका करनेवाला हूँ ऐसी कर्ताबुद्धि स्वप्न में भी आती नहीं है। उसका नाम ज्ञानी है। जो परिणाम को जाने परन्तु करे नहीं, जाने परन्तु करे नहीं, उसका नाम ज्ञानी है। देखो ७५ नंबर की गाथा में वह विषय लिया है। यहाँ तो थोड़े दिन रहना है उसमें कहाँ पूरा होवे? आहाहा!

जो कर्मका परिणाम अरु नोकर्मका परिणाम है,

सो नहिं करे जो, मात्र जाने, वो हि आत्मा ज्ञानि है (समयसार गाथा ७५)।

परिणाम होते हैं अवश्य। किसी को ऐसा लगे कि परिणाम की कर्तृत्वबुद्धि छूट गई और सम्यग्दर्शन हुआ, वह ज्ञाता हुआ फिर परिणाम उपजना बंद हो जायेंगे? तो यह सब क्या होगा? पूरा घर का व्यवहार और दुकान का व्यवहार बंद हो जायेगा? ऐसा नहीं है। कर्ताबुद्धि छूटने के बाद परिणाम तो हुआ ही करते हैं। परन्तु परिणाम का (मैं) कर्ता हूँ ऐसी बुद्धि छूट जाती है। परिणाम होते हैं उसे मात्र जानता है। वह आया न?

मुमुक्षु: सोमवार, मंगलवार का दृष्टांत दिया था।

पू. लालचंदभाई: हाँ! सोमवार, मंगलवार का दृष्टांत दिया था, समझ में आये इसलिये। **जो कर्मका परिणाम**, ये व्रत और अव्रत के परिणाम हैं न, ये कर्मकृतभाव हैं, आत्मकृत नहीं हैं। कर्मकृतभाव लगते हैं ज्ञानी को और अज्ञानी को वे आत्मकृत लगते हैं। उन दोनों में बड़ा अंधकार और प्रकाश जितना फर्क है।

जो कर्मका परिणाम अरु नोकर्मका परिणाम है,

सो नहिं करे जो, मात्र जाने, वो हि आत्मा ज्ञानि है (समयसार गाथा ७५)।

ऐसी साधक की अवस्था होने पर ज्ञाता बनता है, कर्ताबुद्धि छूट जाती है, परिणाम रह जाता है। फर्क क्या पड़ा? कि परिणाम रह गया परन्तु परिणाम में कर्तृत्वबुद्धि, स्वामित्वबुद्धि छूट गई। जाननहार रहता है। देह, मन, वाणी की क्रिया भी होती है और व्रत-अव्रत के भाव भी आते हैं अथवा निचली भूमिका में अशुभ - पाप के परिणाम भी आते हैं परन्तु ये पाप के परिणाम मेरे हैं, ऐसे परिणाम के प्रति ममत्वभाव छूट गया। परिणाम नहीं छूट गया। पुण्य-पाप के परिणाम नहीं छूट गया। परन्तु

पुण्य-पाप मेरे हैं ऐसा ममत्वभाव छूट गया। मेरा तो ज्ञान है। मेरापना जब ज्ञान में स्थापित किया तब पुण्य-पाप के परिणाम में मेरापना छूट गया, देह में मेरापना छूट गया, दुकान में मेरापना छूट गया, कुटुंब में मेरापना (छूट गया)। आहाहा! ये पुत्र, पुत्री, भाई, भगिनी, भार्या किसके?

मेरा तो एक ज्ञान है। मैं तो एक जाननहार चिदानंद आत्मा हूँ। जाननेरूप निरंतर परिणमता है परन्तु पर के स्वामित्वरूप एक समयमात्र परिणमता नहीं है। स्वामित्वबुद्धि, मालिकबुद्धि छूट गई। साक्षी हो गया, ज्ञाता-दृष्टा हो गया। आहाहा! परन्तु उसका ज्ञाता-दृष्टा कब हो? कि ज्ञायक का ज्ञाता हो तो। यह शर्त है। यह शर्त कठिन है। कि ठीक है भाई, कल से हम अब ऐसा करेंगे, दुकान पर भी जायेंगे और ज्ञाता भी रहेंगे, और कुछ शुभाशुभभाव आयें वो भी करेंगे और उसके ज्ञाता रहेंगे। ना, ना यह कोई ऐसी सामान्य बात नहीं है, यह शब्द का काम नहीं है, विकल्प का काम नहीं है, धारणा का काम नहीं है। वह तो पुण्य-पाप से भिन्न भगवान आत्मा का प्रत्यक्ष जब स्वाद आता है, अतीन्द्रिय आनंद का निर्विकल्पध्यान में स्वाद आकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है। उस निर्विकल्पध्यान में से सविकल्प में आने पर दुकान पर जाने का भाव आया, इच्छा हुई परन्तु उस इच्छा का वह जाननहार है। कब? कि ज्ञायक को जानता हुआ इच्छा को जानता है, ज्ञायक को चूककर इच्छा को नहीं जानता है। ज्ञायक को जानता हुआ पुण्य-पाप को जानता है। ज्ञायक को जानते हुए रोटी बनाने की इच्छा हुई तो ज्ञायक को जानते हुए इच्छा को जानता है और रोटी हुई ऐसा जानता है। परन्तु जाननपना मुख्यतया तो ज्ञायक में स्थाप दिया। इसे जानते-जानते जो कोई परिणाम आवे उसे जाने उसका नाम व्यवहार है। भेद को जाने उसका नाम व्यवहारनय, अभेद को जाने उसका नाम निश्चयनय। पर्याय को जाने, दशा को जाने, हालत को जाने, संयोग को जाने परन्तु करे नहीं। मात्र जाने। आया न? मात्र जाने। आहाहा!

ऐसी एक अंतर्दशा गृहस्थ अवस्था में, बहन हो या भाई हो, बड़ी उमर के बुजुर्ग हों या बड़ी उमर की माता हों, बिल्कुल अनपढ़ हों, कुछ पढ़ना ना आए। अक्षर भी ना आते हों कक्का बारहखड़ी, तो भी मैं ज्ञानमय आत्मा हूँ, ये रागमय मैं नहीं हूँ। आहाहा! मैं तो ज्ञानमय हूँ, रागमय नहीं हूँ। फिर रागमय नहीं हूँ वह भूल जाना। मैं तो ज्ञानमय हूँ। मैं ज्ञानमय हूँ ऐसे बारंबार, बारंबार, बारंबार विचार आने पर वह मन के संग से जो विचार आवे वह भी छूट जाता है और ज्ञानमय होकर आत्मा का अनुभव करता है, ये वहाँ से धर्म की शुरुआत होती है।

(–क्योंकिजो जड़ हो वह अपनेको तथा परको नहीं जानता, उसे दूसरा ही जानता है –) इसलिये वे, कारण दिया। उसमें - राग में स्वपरप्रकाशक शक्ति नहीं है। आत्मा में स्वपरप्रकाशक शक्ति है। इसलिए ज्ञान अपने आत्मा को भी जानता है और राग आता है उसे (भी) ज्ञान जानता है। राग करता नहीं। राग आता है उसे जानता है। राग आता है। आहाहा! उसके कालक्रम में वह आया हुआ राग है। आहाहा! उसके कालक्रम में आ जाता है। मैं उसको लाऊँ और (वह) आये, ऐसा मेरा धर्म नहीं है।

और वह भक्ति का राग आया और मैं उसे टिकाऊँ वह भी मेरा धर्म नहीं है। आहाहा! आते-जाते मेहमान को मात्र घर का मालिक जानता है कि मेहमान आये, चार दिन के बाद चले गये। आयें

तो भी मेहमान के रूप में जानता है और जायें तो भी मेहमान के रूप में जानता है। जाने, जाने और जाने। आत्मा को जानते हुए आस्रवों को मात्र ज्ञानी जानता है। परन्तु ज्ञानी की आत्मबुद्धि पुण्य और पाप के फल में छूट गई है। **इसलिये वे चैतन्यसे**, चैतन्य अर्थात् ज्ञान और दर्शनमय भगवान जो आत्मा उससे **अन्य** अलग **स्वभाववाले हैं**। पुण्य और पाप के परिणाम अचेतन और जड़ होने से वे अन्यभाव हैं, **अन्य स्वभाववाले हैं**। मेरी जाति का भाव उसमें नहीं है। **चैतन्यसे अन्य स्वभाववाले हैं**। अर्थात् मेरे स्वभाव से वे भाव मेल नहीं खाते। मेरे स्वभाव के साथ वे भाव मिलान नहीं करते हैं। एक मलमल का थान हो और एक सूती का थैला हो दोनों पास में पड़े हों परन्तु मिलान नहीं करते हैं। ऐसे ही भगवान चैतन्यमूर्ति आत्मा और पुण्य-पाप के जड़ भाव, अचेतन, मेरे साथ अनमेल हैं। मेरे साथ मिलान नहीं करते। जो मेरे में लक्षण है वह उसमें नहीं है। और उसमें जो लक्षण है वह मेरे में नहीं है। मैं चेतन और वह जड़। मेरा लक्षण चैतन्य और पुण्य-पाप का लक्षण जड़। हाय हाय! इसे जड़ कहोगे तो कोई पुण्य नहीं करेगा। अरे! करने ना करने का प्रश्न ही नहीं है। आये उसको जड़भाव रूप जानना। चेतन को चेतनभाव रूप जानना और आते हुए आगंतुकभाव को जड़भाव रूप जानना कि उसमें जागृति का कोई एक अंश नहीं है।

चैतन्यसे अन्य स्वभाववाले हैं; और भगवान आत्मा तो, आठ में पाँच-दस पर शुरू किया था। नौ में दस तक रखेंगे। नौ में दस। **इसलिये वे चैतन्यसे**, यह विद्या। आहाहा! यह सर्वज्ञभगवान के द्वारा कही हुई विद्या, संतों ने अनुभव करके शास्त्र लिखे और अनुभवी संत ने, सोनगढ़ के संत ने यह बात जगत के सामने खुली की। हजारों लाखों जीव अभी गहराई से अभ्यास कर रहे हैं। गाँव की छोटी-छोटी बेटियाँ भी ऐसा अभ्यास करती हैं और बहनें ऐसे प्रश्न पूछती हैं। अभी इन्दौर में शिविर थी तब मैं गया था, अंतिम दस दिन। दोपहर को चर्चा थी। परन्तु बहनें ऐसे प्रश्न पूछतीं कि दूसरे को ऐसा लगे कि, आहाहा! कितना गहरा अभ्यास! इन्दौर में तो दस हजार लोग इकट्ठे होते थे। रात को दस हजार लोग। परन्तु एकदम बिल्कुल आवाज नहीं। एकदम शांति से सब सुनें। क्योंकि इन्दौर तो जैनपुरी कहलाती है। वहाँ रस, बहुत रस, बहुत रस। और हिंदी भाई तो सुबह पाँच बजे उठें (और) रात को ग्यारह बजे तक अभ्यास करें। उनकी क्लास में, तत्त्वचर्चा में, एक-एक जगह पर जाते हैं। इतना गहरा रस!

मुमुक्षु: वे प्रश्न पूछें वो रटा हुआ नहीं होता।

पू. लालचंदभाई: ना, ना अंदर से, उनकी उलझन होती है न, वो उलझन मिटाने के लिये प्रश्न करते हैं।

वे, वे अर्थात् व्रत-अव्रत के भाव जड़ हैं। यह कौन सुनाये? ऐसा इस शास्त्र में लेख, ऐसे शास्त्र अन्यत्र कहीं (नहीं हैं)। शास्त्रों के नाम हैं परन्तु शास्त्र नहीं। आहाहा! किताब में यह बात कहाँ से हो! अरे! अनुभवी पुरुष की वाणी सुनने को मिलना मुश्किल और उनके लिखे हुए शास्त्र वे कान के ऊपर आना भी दुर्लभ है। **वे चैतन्यसे अन्य स्वभाववाले हैं; और भगवान आत्मा तो,** ये भगवान कहकर बुलाते हैं हों! कोई स्त्री या कोई पुरुष नहीं है। कोई मिथ्यादृष्टि नहीं है। हें! यह क्या कहा? हाँ, मिथ्यात्व तो आस्रव का लक्षण है। जीव का लक्षण मिथ्यात्व नहीं है। मिथ्यात्व नाम का जो आस्रव है, मिथ्यात्व,

अव्रत, कषाय और योग ऐसे आस्रव के चार भेद हैं। जीव के भेद नहीं हैं। जीव के भेद तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख ये सब जीव के गुण हैं। ये मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग ये सब आस्रव के धर्म, आस्रव के स्वभाव, आस्रव के लक्षण हैं। उनमें कहीं भी जीव का लक्षण नहीं है।

आत्मा तो, अपनेको सदा ही विज्ञानघनस्वभावपना होनेसे, यह क्या फरमाते हैं? सभी आत्मायें, सदा ही अर्थात् तीनोंकाल, हमेशा विज्ञानघन स्वभावी हैं। गुरुदेव दृष्टांत देते थे। 'चेला' (गाँव) की ओर जाते थे तब सर्दियों में घी होता है न, तो घी में अँगुली डालें तो फाँस लगे। ऐसा बिनौला खिलाकर जो दूध होता है न, भैंस का, अब तो सब चला गया। परन्तु उसमें कुछ प्रवेश नहीं होता। ऐसे ही यह भगवान आत्मा विज्ञानघन, विशेष रूप से ज्ञानघन है। उसमें राग का प्रवेश बिल्कुल नहीं हो सकता है। वह ऊपर-ऊपर बाहर-बाहर राग जाता है। अंदर में प्रविष्ट नहीं होता है। ऐसे ही अपने को **सदा ही**, हमेशा, तीनों काल **विज्ञानघनस्वभावपना होनेसे,** विशेषरूप से ज्ञानघन सघन वस्तु आत्मा है, वह अरूपी है, अमूर्तिक है, तथापि विज्ञानघन है। उसमें ज्ञान के सिवाय राग का प्रवेश नहीं हो सकता है। आत्मा ज्ञानमय है और पुण्य-पापवाला आत्मा है ही नहीं।

वे सभी संयोग के व्यवहारनय के कथन हैं और व्यवहारनय के कथन को अभूतार्थ और असत्यार्थ होने पर भी उसे सच्चा मानकर बैठा है अतः निश्चयनय से आत्मा का क्या सच्चा, original (असली) स्वरूप है वह उसके लक्ष में आता नहीं है। **अपनेको सदा ही विज्ञानघनस्वभावपना होनेसे, स्वयं ही चेतक (–ज्ञाता) है**। आत्मा स्वयं ज्ञाता - चेतक होने से ज्ञाता है परन्तु कर्ता नहीं है। ज्ञाता है परन्तु कर्ता नहीं है। **(–स्वको और परको जानता है –)**। अपने होनेवाले परिणाम को करता नहीं है और पर के परिणाम को करता नहीं है। ज्ञानी तो अपने परिणाम को और पर के परिणामों को जानता हुआ परिणमता है। ऐसा श्लोक है (समयसार गाथा ७५)। ज्ञानी धर्मात्मा तो अपने में होनेवाले परिणामों को और पर के परिणामों को मात्र जानता हुआ परिणमता है परन्तु करता नहीं है। **स्वयं ही चेतक (–ज्ञाता) है (–स्वको और परको जानता है –) इसलिये वह चैतन्यसे अनन्य स्वभाववाला ही है**।

क्या कहा? आत्मा है वह ज्ञान और दर्शन से अनन्य स्वभाववाला है; और पुण्य और पाप के परिणाम वे अन्य स्वभाववाले हैं, अन्य भाव हैं, अनन्य नहीं हैं। जैसे चीनी में मिठास है वह अनन्य है। उसका मैल है वह अन्यभाव है। उसका जो चीनी का लक्षण मिठास उस मैल में मिठास नहीं है। **इसलिये वह चैतन्यसे अनन्यस्वभाववाला ही है (अर्थात् चैतन्यसे अन्य स्वभाववाला नहीं है)।** दो बोल हुए।

अब तीसरा। ये पुण्य और पाप के परिणाम ये दुःख को देनेवाले हैं। पाप के परिणाम का फल (उसे) तो सब दुःख कहते हैं परन्तु पुण्य के परिणाम भी दुःखरूप हैं यह तो सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा के सिवा कोई कह सकता नहीं। पाप से बंध होता है और पुण्य से मोक्ष होता है। जयंतीभाई कहते थे, आज आये नहीं हैं अभी; जयंतीभाई कहते थे कि इस तीसरे भाव की किसी को खबर नहीं थी। दो ही भाव - एक अशुभ और शुभ अथवा पाप और पुण्य। परन्तु आत्मा के आश्रय से शुद्ध परिणाम प्रगट होते हैं इस बात की खबर किसी को नहीं थी। स्वयं कबूल किया। इस तीसरे भाव की किसी को खबर

नहीं थी। दो ही भाव की (खबर थी) बस दो ही भाव हैं। या तो करो पाप या करो पुण्य। पाप तो करने जैसा है नहीं और पुण्य करते-करते धर्म होता है। पाप से बंध और पुण्य से मोक्ष।

श्रीमद् राजचन्द्रजी फरमाते हैं - अरे! जिस भाव से बंध हो उस भाव से मोक्ष कैसे हो? जिस भाव से बंध हो, पाप और पुण्य के परिणाम जो आस्रव हैं उनसे यदि बंध हो तो उनसे मोक्ष कैसे हो? अतः उससे मोक्ष नहीं होता। आत्माश्रित वीतरागभाव वह ही मोक्षमार्ग है, वह ही मोक्ष का कारण है। मोक्ष की जाति का जो परिणाम, वो उसका कारण होता है। मोक्ष है वह परिपूर्ण शुद्धता है। तो उसका कारण आंशिक शुद्धता संवर-निर्जरा वह मोक्ष का कारण होता है। परन्तु पुण्य और पाप के परिणाम जो अशुद्धभाव वे किसी काल में भी मोक्ष का कारण हो सकते नहीं। क्योंकि जाति भिन्न है।

मुमुक्षु: इतने वर्षों में कोई हीरा यह समझाने के लिये नहीं निकला।

पू. लालचंदभाई: ऐसा है कि (यह) पंचमकाल है। ज्ञानी का योग मिलना बहुत दुर्लभ है। केवली भगवान रहे नहीं, अरिहंत रहे नहीं। पंचमकाल लग गया। किसी-किसी समय किसी-किसी स्थान पर ज्ञानी होते हैं, पकते हैं। गुरुदेव के पहले भी ज्ञानी हुए हैं। जैसे कि सौराष्ट्र में श्रीमद् राजचन्द्र जी हुए। हाँ, उनके पहले भी पिछले पाँच सौ वर्षों में हम देखते हैं तो राजमल जी हुए, बनारसीदास हुए, दीपचंदजी हुए ऐसे-ऐसे श्रावक भी टोडरमल जी हुए ऐसे-ऐसे ज्ञानी तो हो गये।

उन दीपचंदजी ने तो वहाँ तक कहा- जिन्होंने आत्मावलोकन, अनुभव-प्रकाश, चिद्विलास ऐसे-ऐसे शास्त्र लिखे हैं, छोटे-छोटे। तो उनके समय में उन्होंने आत्मा की बात तो की, शुरू तो की। किसी-किसी को मिले, उन्होंने बात तो की परन्तु इतना विरोध हुआ कि कोई उनकी बात सुनने को तैयार नहीं। फिर उन्हें ऐसा लगा कि, आहाहा! मेरे आत्मा के अनुभव की बात कोई सुनता नहीं है तो चलो मैं लिखकर जाऊँ। बाद में कोई योग्य जीव होगा तो उसे यह साहित्य काम आयेगा। ऐसा जानकर स्वयं लिख गये। वे लिखते हैं कि मेरी बात कोई सुनता नहीं था अतः मैं लिख जाता हूँ। कोई आगे के लायक जीव होंगे तो वे आत्मा को पहचानेंगे और अनुभव करेंगे।

इसप्रकार पूर्व में चारसौ-पाँचसौ वर्षों में हम देखें तो ज्ञानी श्रावक भी हो गये और कितने ही मुनि भी हुए होंगे परन्तु उनके नाम बाहर नहीं आये होंगे। मुनि हो गये। सातसौ, आठसौ, हजार वर्ष पहले तो बहुत से मुनि हुए उनके नाम तो हैं। परन्तु वर्तमान काल में जब गुरुदेव ने बात की तब बिल्कुल अँधेरा था। कोई जानता नहीं था। शास्त्र में बात थी। शास्त्र में ही बात थी परन्तु शास्त्र का अर्थ- ऐसा है कि द्रव्यानुयोग में प्रवेश सम्यग्दृष्टि का ही होता है। द्रव्यानुयोग सूक्ष्म और गंभीर है। उसका अर्थ निकालना बहुत कठिनाई वाली बात है। सम्यग्दृष्टि का प्रवेश होता है। मिथ्यादृष्टि द्रव्यानुयोग ले तो अर्थ का अनर्थ भी कर डाले। समझ गये! वह असाधारण बात है। परन्तु हम तो नसीबदार (हैं कि) बना बनाया माल (मिल गया है)। पिता मेहनत करे और पुत्र को पाँच करोड़ की लक्ष्मी दे जाये। मेहनत करें वो, मजदूरी वो करे, और पुत्र वह पुण्य लेकर आया हो तो बने बनाये (के) ऊपर बैठ जाये। ऐसे गुरुदेव ने अकेले अपने बल पर मेहनत - मंथन किया और हमें यह विरासत दे गये हैं। आहाहा! परन्तु उस विरासत को संभालना, बनाये रखना, उसका सदुपयोग करना वह तो उनके भक्त और पुत्रों का काम है। वे तो कहकर चले गये हैं। बस! अपने को अकेले अपने बल पर

करना है। कोई मदद करे ऐसा नहीं है। और दूसरे के ऊपर नजर नहीं करनी। यह इतने-इतने समय से सुनता है और अभी तक कुछ ठिकाना नहीं है। नहीं दूसरे के सामने देखना बंद करो। अपने को अपना हित करना है। किसी के सामने देखना बिल्कुल, कतई बंद करो। यदि दूसरे के सामने देखोगे तो रह जाओगे।

मुमुक्षु: कहीं लक्ष नहीं होना चाहिये।

पू. लालचंदभाई: बिल्कुल नहीं। अपने को, मूल बात यह है कि किसी के साथ भागीदारी दस्तावेज नहीं है, agreement (समझौता) नहीं है। बहुत सुख है। किसी के साथ किसी की भागीदारी नहीं है। यदि भागीदारी हो तो-तो विचार करना पड़े कि यह झूठे परिणाम करता है और यह debit note (नामे नोट) मुझे आयेगी, तो लाओ उसे रोकें। परंतु अपने को कोई लेना-देना नहीं है। सब अपने-अपने भाव के फल भोगेंगे। उसमें हमें क्या लेना-देना! कोई किसी के साथ भागीदारी नहीं है।

ऐसे कोई सम्यग्दर्शन प्राप्त कर ले तो हमें credit note (जमापत्र) नहीं आती। कोई भाग नहीं दे। दे? हें? ये गुरुदेव ने अपने को कुछ भाग दिया? क्योंकि भागीदारी का ही अभाव है। partnership deed (भागिता विलेख) हो सकता ही नहीं। प्रत्येक जीव संसार अवस्था में, मोक्षमार्ग में या मोक्ष में अकेला ही है। किसी का कुछ लेना-देना नहीं हैं। पर से निरपेक्ष है अतः पर के सामने देखना बंद करके और अपने द्रव्य और पर्याय का प्रमाणज्ञान करके, पर्याय को गौण करके, द्रव्यस्वभाव को मुख्य करके और इसमें उपयोग को जोड़ना तब उसको आत्मा का अनुभव होता है, उसे धर्म कहने में आता है।